शिक्षा और स्वतंत्रता

स्वतंत्रता शायद मनुष्य की सबसे बलवती कामना है। छोटे बच्चे भी उनको अपने मन की न करने दी जाए तो विरोध करते हैं, मन की करने के लिए रोते-मचलते हैं, और बहुत रोको तो आंख बचा कर करते हैं। इम्मानुयल कांट अपने लेक्चर्स ऑन पेडागोजी में कहते हैं कि मानव स्वभाव में ही स्वतंत्रता के प्रति इतना प्रबल आकर्षण होता है कि इसकी आदत हो जाने के बाद वह इसके लिए सब कुछ दांव पर लगा सकता है। समाज में एक वयस्क से अपेक्षा की जाती है कि वह क्या करना चाहता है और कैसे करना चाहता है खुद तय करे। बहुत से शिक्षा-दार्शनिक मानते हैं कि शिक्षा का एक बहुत महत्वपूर्ण उद्देश्य स्वायत्तता होता है या होना चाहिए। इनमें शेफ्लर, पीटर्स, हर्स्ट, डीयर्डेन, विंच आदि बहुत से शिक्षा दर्शिनिकों को गिना जा सकता है। टैगोर तो 'मैन द आर्टिस्ट' में जीवन के उद्भव को ही जड़त्व से स्वतंत्रता के रूप में देखते लगते हैं, और फिर मानव को तो स्वयंभू तक ले जाते हैं। गांधी भी हिन्द स्वराज में अपने ऊपर अपने राज्य अर्थात व्यक्ति-स्वायत्तता की बात करते हैं। इन दिनों भारत में लगभग हर शहर में आजादी के नारे लग ही रहे हैं। ये सब देखते हुए मानव की महती आकांक्षा के रूप में स्वतंत्रता तो निर्विवाद ही लगती है।

पर सवाल यह है कि यह स्वतंत्रता चीज क्या है? क्या चींटी की गुड़ के पास पहुंचने की भरसक कोशिश उसका स्वतंत्र प्रयास है? क्या बया का इतना सुघड़ घोंसला बनाना उसका स्वतंत्र प्रयास है? क्या शराबी के हर शाम मदिरालय की तरफ उठते कदम उसका स्वतंत्र कर्म है? क्या गौरक्षा के नाम पर लोगों को मारने वाले स्वायत्त व्यवहार कर रहे हैं? क्या मुहम्मद के बारे में कुछ कह देने वाले को मार देने वाले स्वायत्त व्यवहार करते हैं? क्या आंख मूंद कर नारे लगाने वाले स्वतंत्र हैं?

पहली नजर में चींटी और बया के व्यवहार को तो सहज-प्रवृति (instinct) से संचालित कहा जा सकता है। उनका व्यवहार पूरी तरह सहज-प्रवृति के वश में है, कोई विचार-पूर्वक निर्णय की वहां न जरूरत है और ना ही संभावना। अतः इन दोनों में तो किसी प्रकार की स्वतंत्रता, आजादी या स्वायत्तता की बहुत गुंजाइश नहीं है। पर ऐसा कह देने में दो बातें निहित हैं। **एक**, किसी व्यवहार को स्वतंत्र कहने के लिए एकाधिक विकल्पों में से कोई एक चुनने का अवसर चाहिए; और **दो**, उन विकल्पों में से चुनाव किसी विचार के आधार पर होना चाहिए, ना कि निराधार कुछ भी कर लेना या मान लेना। अर्थात, आंख पर पट्टी बांध कर सामने पड़ी चीजों में से कोई एक उठा लेना या अक्कड़-बक्कड़ करके एक उठा लेना किसी विचार के आधार पर चुनाव नहीं है; अतः स्वतंत्र-चुनाव भी नहीं कहा जा सकता। इस तरह देखें तो इस दूसरी शर्त पर सोचने में एक और सवाल उठ खड़ा होता है; **तीन**, क्या किसी भी विचार पर आधारित निर्णय/व्यवहार को स्वतंत्र कहा जा सकता है? अर्थात, क्या किसी मतारोपित (indoctrinated) विचार के अधीन व्यवहार भी स्वतंत्र व्यवहार कहा जाएगा? क्या कंडिसंड (conditioned) व्यवहार भी स्वतत्र कहा जाएगा? इन सवालों पर शिक्षादर्शन में काफी विचार हो चुका है। उसकी कुछ झलक इस लेख के आखिर में रखेंगे।

इस संदर्भ में एक रुचिकर तथ्य यह है कि आजादी के आस-पास के संस्कृत शब्दों की व्युत्पत्ति में ही कुछ शर्तें बुनी हुई दिखती हैं। यह सही है कि शब्दों के अर्थ समय और उपयोग के साथ बदलते और विकसित होते हैं, अतः केवल व्युत्पत्ति के आधार पर उनके वर्तमान अर्थ या अवधारणाओं का पूर्ण विश्लेषण नहीं हो

सकता। पर कई बार बहुत काम के और महत्वपूर्ण संकेत व्युत्पत्ति में मिल जाते हैं, उन्हें विश्लेषण में शामिल करना उपयोगी हो सकता है। इस दृष्टि से स्वतंत्र, स्वाधीन, स्वायत्त, स्वछंद और उच्छृंखल शब्दों का संधि-विच्छेद करके अर्थ समझना उपयोगी हो सकता है। क्योंकि मैं संस्कृत नहीं जानता, इसलिए इस लेख को कुछ आरंभिक विचार के रूप में आगे किसी संस्कृत विद्वान के काम के लिए प्रस्ताव ही समझना चाहिए, ना की पूरा विश्लेषण।

वामन शिवराम आप्टे की 'संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी' के अनुसार उपरोक्त शब्दों का संधि-विच्छेद इस प्रकार हैः स्वतंत्र=स्व+तंत्र, स्वाधीन=स्व+अधीन, स्वायत्त=स्व+आयत्त, स्वछन्द=स्व+छन्द। इन सब शब्दों में ''स्व'' उपसर्ग है। ''स्व'', जैसा कि हम सब जानते हैं और आप्टे के अनुसार भी, अपने-आप के अर्थ में काम में आता है- ''one's own, belonging to oneself, often serving as a reflexive pronoun''। अर्थात इन सभी शब्दों के अर्थ ''स्व-आधारित'', स्वयं पर निर्भर करने वाले होंगे।

'स्वतंत्र' में 'तंत्र' भी है। आप्टे के अनुसार 'तंत्र' का अर्थ है ''to rule, control, govern'', अर्थात ''शासन करना, नियंत्रण, नियमन करना''। इस अर्थ में ''स्वतंत्र'' का अर्थ हुआ 'अपने आप के, स्वयं के, नियंत्रण में'; 'स्वयं द्वारा नियमित'। हमारे लिए ध्यान देने की बात है ''नियमन''। स्वतंत्र का अर्थ 'अनियमित' नहीं होता, 'नियमित' होता है; पर यह नियमन 'स्वयं' द्वारा किया जाना चाहिए, तभी कोई व्यक्ति या व्यक्ति का कर्म-विशेष स्वतंत्र कहा जा सकता है।

स्वाधीन=स्व+अधीन। यहां हमें 'अधीन' शब्द पर विचार करना चाहिए, 'स्व' पर तो विचार कर ही चुके। आप्टे ''अधीन'' का अर्थ करते हैं ''subject to, subservient, dependent on'' अर्थात ''अनुसार/नियमित, अनुसेवी, निर्भर''। अर्थात स्वयं के अधीन, स्वयं द्वारा नियमित। यहां भी 'अनियमित' नहीं है। नियमन बस स्वयं का है। स्वायत्त=स्व+आयत्त। आप्टे के अनुसार 'आयत्त' माने ''dependent on, resting with''। अर्थातः किसी पर निर्भर होना। स्वायत्त का अर्थ होगा स्वयं पर निर्भर होना। स्वयं पर निर्भरता भी 'स्वयं द्वारा नियंत्रण' की तरफ इशारा करती है। कहने का तात्पर्य यह कि इन तीनों शब्दों में 'स्वयं के द्वारा नियमन' का भाव साफ है। और नियमन किसी नियम के माध्यम से ही संभव है। मतलब यह कि ''स्वतंत्रता'', ''स्वाधीनता'' और ''स्वायत्तता'' के सही अर्थों में हमारा व्यवहार किन्हीं 'स्वयं निर्धारित नियमों के अनुसार' होना होगा।

बात को साफ करने के लिए दो और शब्दों को देखते हैं। पहला, ''स्वछन्द=स्व+छन्द''। यहां भी उपसर्ग 'स्व' ही है। 'छन्द' का अर्थ आप्टे ''pleasing, fascinating, inviting, alluring'' आदि करते हैं। अर्थात 'स्वछन्द' में 'स्वयं' तो है, पर स्वयं द्वारा नियमन/नियंत्रण नहीं है; बल्कि 'मधुर, आकर्षक, मनभावन' आदि है। सवाल यह उठता हैं कि 'स्वछन्द' में 'स्व' नियंत्रक और नियामक है या मनभावन आदि द्वारा 'नियंत्रित' है? इस पर आगे विचार करेंगे। ''उच्छृंखल'' का अर्थ आप्टे ''unbridled, unrestrained, uncurbed; self-willed, perverse, irregular, desultory, unsystematic, आदि करते हैं। अर्थात अबाध, उद्दाम, अनियंत्रित, अनर्गल, निरंकुश, आदि। यह स्वछन्द से भी एक कदम आगे है। यहां भी किसी प्रकार के नियमन/नियंत्रण की बात नहीं है।

उक्त सारे शब्दार्थ-विश्लेषण का अर्थ है कि एक तरफ स्वतंत्रता, स्वाधीनता, स्वायत्तता आदि शब्द हैं जिनमें नियमन/नियंत्रण है, चाहे स्वयं का ही हो। दूसरी तरफ स्वछन्द और उच्छृंखल जैसे शब्द हैं जिनमें किसी प्रकार का नियंत्रण/नियमन नहीं है। जिसे हम उर्दू में आजादी और अंग्रेजी में फ्रीडम कहते हैं वह स्वतंत्रता आदि शब्दों की समानार्थक है; स्वछन्द और उच्छृंखल की नहीं। कम से कम मुझे यही लगता है।

पर क्या स्वयं के नियमों के अनुसार व्यवहार/निर्णय लाजमी तौर पर स्वतंत्र व्यवहार है? यहां हमें मनोवैज्ञानिक कंडीसनिंग (psychological conditioning), मतारोपण (indoctrination), कामना/वासना (desire) और व्यसन (addiction) द्वारा संचालित व्यवहार और निर्णयों पर विचार करना पड़ेगा। कई बार बच्चे अपने किसी अध्यापक या बड़े से डरने लगते हैं। इन में से कुछ बच्चे बड़े हो जाने पर भी उन अध्यापकों के सामने पड़ जाने पर डर महसूस करते हैं और उनके सामने कुछ कह नहीं पाते, बस हां में सिर हिलाते हैं। यह कंडीसंड व्यवहार है, शायद ही कोई इसे स्वतंत्र

या स्वायत्त व्यवहार बताए। बहुत बार धर्म, संस्कृति आदि के बारे में हमारे मन में कुछ विचार बैठ जाते हैं। उदाहरण के लिए 'नास्तिक व्यक्ति की कोई नैतिकता नहीं होती', 'मूर्तिपूजा कुफ्र है', 'गाय पवित्र होती है' आदि। इन पर हम तर्कपूर्ण विचार करने को तैयार नहीं होते। इन विचारों का विरोध करने वाले को तुरंत गलत मान लेते हैं और उससे नाराज होते हैं। ये दोनों व्यवहार नियम संचालित तो हैं। पहले में 'व्यक्ति-विशेष की उपस्थिति' और दूसरे में 'अपनी मान्यता-विशेष का विरोध न सहना' नियम के रूप में देखे जा सकते हैं। पर इनमें 'स्व' अनुपस्थित है। एक तो ये नियम हमने अपनी मर्जी से नहीं चुने; दूसरे, इन नियमों की विवेक-संगतता को हमने नहीं जांचा। अतः न तो ये नियम स्व के यानी 'हमारे अपने' हैं और ना ही हम इनका सचेत उपयोग कर रहे हैं। अतः ये व्यवहार हमारे-अपने अधीन, स्वयं द्वारा नियमित तो नहीं कहे जा सकते।

इसी तरह किसी प्रकार की इच्छा, कामना, वासना के वश में किया गया व्यवहार भी हमारे अपने अधीन नहीं कहा जा सकता। इन परिस्थितियों में हमारा 'अपने ऊपर' ही वश नहीं होता। व्यसन या लत (addiction) के तहत व्यवहार में भी यही स्थिति होती है। उसमें भी हमारा अपने ऊपर नियंत्रण नहीं होता। उपरोक्त विश्लेषण को स्वीकार करें तो स्वतंत्रता हमें तभी मिलती है जब हमारे व्यवहार और निर्णय निम्न शर्तें पूरी करते हों:

1. हमारा अपने ऊपर नियंत्रण हो। अर्थात मन और कर्म को वश में रख सकें।
2. व्यवहार और निर्णय किसी नियम के अनुसार हों।
3. सब जगह समान परिस्थितियों में समान नियम का ही उपयोग करते हों। और,
4. वह नियम हमारा स्वयं का विवेक-सम्मत तरीके से सचेत चुनाव हो।

इनमें से एक भी शर्त पूरी न होने पर हमारा व्यवहार वासना/कामनाओं के वश में, या मतारोपण द्वारा दूसरों के वश में, या कंडीसनिंग द्वारा दूसरों के वश में, या फिर हमारी अपनी मूढ़ता में विचार-हीन होता है।

इस संदर्भ में एक संस्कृत उक्ति का बहुत हवाला दिया जाता है: सा विद्या या विमुक्तये। अपने मूल अर्थ में तो यह उक्ति बहुत भिन्न अर्थ में आई है। यह विष्णु-पुराण के एक श्लोक का हिस्सा है और वहां मुक्तिदायनी-विद्या से आशय ब्रहम-विद्या अधिक लगाया है। पूरा श्लोक निम्न प्रकार है:

तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्।। - श्रीविष्णुपुराण 1-19-41

(कर्म वही है जो बन्धनका कारण न हो और विद्या भी वही है जो मुक्ति की साधिका हो। इसके अतिरिक्त और कर्म तो परिश्रमरुप तथा अन्य विद्याएं कला-कौशलमात्र ही हैं।)

क्योंकि 'विद्या' शब्द समस्त ज्ञान और कौशलों के लिए भी प्रयोग किया जाता है, अतः हम इसे व्यापक अर्थ में भी देख सकते हैं। हालांकि वह अर्थ विष्णु-पुराण से भिन्न ही होगा। विद्या को व्यापक अर्थों में देखें तो शिक्षा का उद्देश्य किसी समाज विशेष में अध्ययन द्वारा समुचित विद्या-प्राप्ति या ज्ञान प्राप्त करना कहा जा सकता है। इस लेख के संदर्भ में वह कौनसा ज्ञान या विद्या होगी जो हमें स्वतंत्र कर्म और विचार की सामर्थ्य दे सके? निसंदेह स्वतंत्र विचार और कर्म के लिए बहुत से ज्ञान और जानकारी की जरूरत होगी। पर कौटिल्य की मानें तो इस सारे ज्ञान को प्रकाशमान तो आन्वीक्षिकी ही करती है।

प्रदीपः सर्वविद्यानां उपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वद् आन्वीक्षिकी मता।। (अर्थशास्त्र 2.12)

(अर्थः आन्वीक्षिकी सभी विद्याओं की शाश्वत प्रदीप है, सभी कार्यों का शाश्वत साधन है, और सभी धर्मों का शाश्वत आश्रय है।)

आन्वीक्षिकी का अर्थ है तर्कशास्त्र, तर्कविद्या, तार्किक दर्शन। न्याय दर्शन को भी आन्वीक्षिकी कहा गया है। न्यायदर्शन का आरंभ ही प्रमाणित ज्ञान की प्राप्ति के रास्ते से मोक्ष प्राप्ति के आश्वासन के साथ होता है। मोक्ष से आशय आत्मा

की बंधन-मुक्ति माना जाता है। पर जो आत्मा को ना मानते हों, या जिन्हें उसकी बंधन-मुक्ति की चिंता ना हो; उनके लिए बुद्धि (दिमाग, mind) की स्वतंत्रता तो आकर्षक हो ही सकती है; और स्वतंत्रता की इच्छा में मूलतः बुद्धि की मुक्ति ही होती है, आत्मा की नहीं। आन्वीक्षिकी सब विद्याओं को प्रकाशित करके इसी बौद्धिक-स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है।

विवेक (reason) आन्वीक्षिकी और नैतिक समझ दोनों को समाहित करता है। उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आज हम विवेकशील स्वायत्तता के अर्थ में ही स्वतंत्रता की बात करते हैं। सोच-विचार कर किसी नैतिक नियम के अधीन होना ही विवेकशील स्वायत्तता दे सकता है। स्वच्छंदता और उच्छृंखलता नहीं। और इसके लिए विश्लेषण कर सकने में समर्थ तर्क-बुद्धि चाहिए। ज्ञान-मीमांसकीय मुक्ति राजनैतिक-मुक्ति की आवश्यक पूर्वशर्त है। ज्ञान-मीमांसकीय मुक्ति के बिना राजनैतिक-मुक्ति या तो स्वच्छंदता और उच्छृंखलता होगी, या फिर स्वतंत्रता के भ्रम में किसी और के हाथों की कठपुतली बनना। यदि हम अपने आस-पास कठपुतलियों की भरमार देखते हैं तो इसका मूल विश्लेषण-क्षमता की दुर्बलता में खोजना चाहिए। और यह मूलतः शिक्षा की कमजोरी का सवाल है।

मेरे विचार से हमारी विद्यालयी शिक्षा कुछ पूर्व निर्धारित विचारों और मान्यताओं को विद्यार्थी के मन में ब्रह्म-सत्य के रूप में स्थापित करने का प्रयास करती है। पाठ्यपुस्तकें अधिकतर इसी विचार से लिखी गई हैं। यह सही है कि पाठ्यपुस्तकों में बार-बार सोचकर स्वयं तय करने की बात कही जाती है। पर सोचना किन्हीं मान्यताओं, चिंतन विधियों और पूर्व जानकारी पर निर्भर करता है। और ये सब बातें इस तरह से दी जाती हैं कि विद्यार्थी वही सोचे जो हम चाहते हैं। अतः विद्यार्थी उच्च शिक्षा में कुछ आधी-अधूरी समझी हुई मान्यताओं को लेकर पहुंचता है। विश्वविद्यालयों का वातावरण और अध्ययन-अध्यापन किसी बात को समझने की बजाय चलताऊ फैशन के अनुसार आलोचना पर अधिक बल देते हैं। अर्थात विश्वासों के तार्किक, वस्तुनिष्ठ और साक्ष्य-संबंधी आधारों की संभावनाओं की ठीक से पड़ताल किये बिना ही, सारे ज्ञान और सभी विश्वासों को पूरी तरह व्यक्तिपरक, सामाजिक मान्यता भर और सत्ता-संचालित घोषित कर दिया जाता है। किसी बात को ज्ञान या सिद्धांत की तरह प्रस्तुत किया जाये तो यह पूछना नहीं सिखाया जाता कि 'इसके पीछे प्रमाण या साक्ष्य क्या हैं?' बल्कि यह पूछना सिखाया जाता है कि 'यह किसका ज्ञान/सिद्धांत है? और उसके ऐसा मानने के पीछे क्या सामाजिक-अर्थिक-सत्ता विषयात्मक कारण हैं?' नतीजा यह निकलता है कि 'कौन, कब, क्या कह रहा है?' का महत्व 'किन तर्कों और साक्ष्यों के आधार पर कह रहा है?' से अधिक माना जाने लगता है। विवेक के इस निर्मूल्यन के बाद विद्यालयी शिक्षा और सामाजिक परिस्थिति के आधार पर बनाई गई मान्यताओं को पुष्ट करने वाले किसी बौद्धिक को अपना आदर्श मानकर अनुगमन करते जाना ही स्वतंत्र चिंतन मान लिया जाता है। अर्थात शिक्षा का संपूर्ण उपक्रम बौद्धिक अनुगमन का पाठ पढ़ाता है। जो यह पाठ ज्यादा देर तक और ज्यादा सफलता के साथ पढ़ता है, उसके लिए अपनी मान्यताओं पर सवाल उठाना उतना ही ज्यादा मुश्किल हो जाता है। इस समस्या से निजात पाने के लिए शिक्षा को विवेक, वस्तुनिष्ठता और सार्वभौमिकता की पड़ताल करनी होगी। जहां विवेक, वस्तुनिष्ठता और सार्वभौमिकता के आधार न मिलें, वहां मान्यताओं के बारे में यह पड़ताल करनी होगी कि उनके नतीजे किसके हित में निकलते हैं। पर हित-अहित देखने से पहले सत्य-असत्य देखना जरुरी है, क्योंकि असत्य कभी भी सब के हित में नहीं हो सकता। ◆

रोहित.